पुण्य और पापका शास्त्रीय दृष्टिकोण

पूर्व वृत्त

'सम्यग्दृष्टिके पुण्य और पाप दोनों हेय हैं' शीर्षक एक लेखमें[1] मैंने बृहद्द्रव्यसंग्रहके संस्कृत-टीकाकार ब्रह्मदेवके उद्धरणपूर्वक यह बताया है कि सम्यग्दृष्टिके पुण्य हेय है—उपादेय नहीं है और संस्कृत-टीकाकारकी सोदाहरण युक्ति द्वारा स्पष्ट किया है कि सम्यग्दृष्टि निज शुद्ध आत्माकी ही भावना करता है। परन्तु चारित्रमोहके उदयसे यदि उस शुद्ध आत्म-भावनामें असमर्थ रहता है तो निर्दोष परमात्मस्वरूप अरहंतादि पंचपरमेष्ठियोंकी परमात्मपदकी प्राप्ति और विषय-कषायोंको दूर करनेके लिए दान, पूजा आदिसे अथवा गुणस्तुति आदिसे परम भक्ति करता है। इससे उस सम्यग्दृष्टि जीवके भोगोंकी आकांक्षा आदि निदान-रहित परिणाम उत्पन्न होता है। उससे उसके बिना चाहे विशिष्ट पुण्यका आस्रव होता है। जैसे किसान चावलोंकी प्राप्तिके लिए खेती करता है, पर पलाल उसे अनचाहे मिल जाता है। पुण्यका फल वैभव (इन्द्रादिपद) आदि मिलनेपर वह (सम्यग्दृष्टि) उसमें आसक्त या मोहित नहीं होता। इस क्रमसे वह आत्मगुणोंका विकास करता हुआ अन्तमें जिनदीक्षा लेकर निर्वाण प्राप्त करता है।

इस लेखमें हमने अपनी ओरसे कुछ न लिखकर केवल ब्रह्मदेवका उद्धरण और उसके अनुवादक पं० अजितकुमारजी शास्त्रीका हिन्दी अनुवाद दिया था। परन्तु उक्त पण्डितजीने 'जैनगजट' वर्ष ७१, अंक ५० के सम्पादकीयमें 'त्याज्य और ग्राह्य' शीर्षकके अन्तर्गत 'भ्रान्ति-निरास' उपशीर्षकसे एक टिप्पणी दी है और उसमें हमें अपने लेखका स्पष्ट अभिप्राय जनताको समझानेके लिए पुण्य-विषयक विवेचन शास्त्रीय साक्षीसे करनेकी प्रेरणा की है। अतः इस लेख द्वारा हम पुण्य और पापका शास्त्रीय दृष्टिकोणसे विचार करेंगे।

पुण्य और पाप

दिगम्बर परम्परामें प्राचीन आचार्योंमें आचार्य कुन्दकुन्द और उनके बाद आचार्य गृद्धपिच्छका सर्वोपरि स्थान है तथा उनके ग्रन्थोंको निर्विवादरूपमें प्रमाण माना जाता है। आ० कुन्दकुन्दने पंचत्थियसंगह (पंचास्तिक-संग्रह), पवयणसार (प्रवचनसार), णियमसार (नियमसार), अट्ठपाहुड (अष्टप्राभृत), समयसार आदि मूर्द्धन्य ग्रंथोंकी रचना की है तथा आ० गृद्धपिच्छका एकमात्र आद्य संस्कृत-गद्यसूत्र-ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' उपलब्ध है। हमें देखना है कि इन ग्रंथोंमें पुण्य और पापका वर्णन मिलता है या नहीं? यदि मिलता है तो उन्होंने पुण्य और पापका निरूपण किस प्रकार किया है?

सबसे पहले हम कुन्दकुन्दका 'पंचत्थियसंगह' लेते हैं। इसमें पुण्य और पापको पदार्थ माना गया है और उनकी नौ पदार्थोंमें परिगणना की गई है। जैसा कि उसकी निम्न गाथासे प्रकट है—

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवर-णिज्जर-बंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ॥[2]

---

१. जैन सन्देश, वर्ष ३०, अंक २४, जैन संघ, मथुरा।

२. पंचत्थियसंगह, गा० १०८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगे इसी ग्रन्थमें पुण्य और पापका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि जीवका शुभ परिणाम पुण्य पदार्थ है और अशुभ परिणाम पाप पदार्थ है। तथा इन दोनों शुभाशुभ परिणामोंका निमित्त पाकर पुद्गल-का परिणाम क्रमशः शुभ कर्म और अशुभ कर्मरूप अवस्थाको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि जीवका शुभ परिणाम भावपुण्य और उसके निमित्तसे होने वाला पुद्गलका शुभकर्मरूप परिणाम द्रव्यपुण्य है। तथा जीवका अशुभ परिणाम भावपाप और उसके निमित्तसे होने वाला पुद्गलका अशुभकर्मरूप परिणाम द्रव्यपाप है। यथा—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावंति हवदि जीवस्स।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो ॥[1]

यहां आ० अमृतचन्द्र और आ० जयसेनकी टीकायें द्रष्टव्य हैं। उन्होंने विषयका अच्छा स्पष्टीकरण किया है। स्मरण रहे कि शुभाशुभ परिणाम (भावपुण्य-भावपाप) का कर्त्ता तो जीव है और उनके निमित्तसे होनेवाले पुद्गलकर्मरूप परिणाम (द्रव्यपुण्य-द्रव्यपाप) का कर्त्ता पुद्गल है। तात्पर्य यह है कि जीव और पुद्गल ये दोनों अपने-अपने परिणामके उपादान हैं और एक-दूसरा एक-दूसरेके प्रति निमित्त है।

पुण्यका आस्रव

इतनी सामान्य चर्चाके बाद अब हम केवल पुण्यके आस्रवके संबंधमें प्रकाश डालनेका प्रयास करेंगे। पुण्य क्या है, यह समझ लेनेके उपरान्त अब प्रश्न है कि पुण्यका आस्रव कैसे होता है? इसका समाधान करते हुए इसी पंचत्थियसंगहमें आचार्यने बड़ी विशदतासे कहा है कि जिसके प्रशस्त राग है, अनुकम्पारूप परिणाम है और चित्तमें कालुष्य नहीं है उसी जीवके पुण्यका आस्रव होता है।

अरहन्त, सिद्ध और साधु इनकी भक्ति, व्यवहारचारित्ररूप धर्मानुष्ठानमें चेष्टा (प्रवृत्ति) और गुरुजनोंका अनुगमन (विनय) प्रशस्त राग है। यह राग स्थूल लक्ष्य होनेके कारण केवल भक्तिप्रधान अज्ञानीके होता है अथवा अनुचित राग या तीव्र राग न होने पाये, इस हेतु वह कभी ज्ञानीके भी होता है। यथार्थमें सूक्ष्मलक्ष्यी सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको यह राग नहीं होता।

प्याससे आकुलित, भूखसे पीड़ित अथवा इष्टवियोगादिजन्य दुःखसे दुःखित प्राणीको देखकर जो स्वयं दुःखी होता हुआ दयाभावसे उसके दुःखको दूर करनेकी इच्छासे आकुलित है उसके इस प्रकारके भावको अनुकम्पा कहते हैं। यह अज्ञानीके होती है। ज्ञानीके तो नीचेकी भूमिकामें रहते हुए जन्मोदधिमें डूबे जगत्-को देखकर ईषत् खिन्नता होती है।

जब क्रोध, मान, माया और लोभका तीव्रोदय होता है तब चित्तमें क्षोभ पैदा होता है और इसीको कालुष्य कहते हैं। परन्तु जब उन्हीं क्रोधादिका मन्दोदय होता है तब चित्तमें क्षोभ नहीं आता, ऐसे भावको अकालुष्य कहा गया है। यह कभी विशिष्ट कषायका क्षयोपशम होनेपर अज्ञानीके भी होता है और कषायका उदय रहते हुए और उपयोगके पूर्ण निर्मल न होते हुए ज्ञानीके भी कदाचित् होता है। यह सब निम्न गाथाओंसे स्पष्ट है—

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥
अरहंत-सिद्ध-साहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥

१. पंचत्थियसंगह, गा० १३२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हु दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥
कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज ।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा वेंति ॥[1]

अब इन्हीं कुन्दकुन्दके समयसारको लीजिये । उसमें पुण्य और पापको लेकर एक स्वतंत्र ही अधिकार है, जिसका नाम 'पुण्यपापाधिकार' है । इसमें कर्मके दो भेद करके कहा गया है कि शुभकर्म सुशील (पुण्य) है और अशुभकर्म कुशील है--पाप है, ऐसा जगत् समझता है । परन्तु विचारनेकी बात है कि शुभकर्म भी अशुभकर्मकी तरह जीवको संसारमें प्रवेश कराता है तब उसे 'सुशील' कैसे माना जाय ? अर्थात् दोनों ही पुद्गलके परिणाम होनेसे तथा संसारके कारण होनेसे उनमें कोई अन्तर नहीं है । देखो, जैसे लोहेकी बेड़ी पुरुषको बाँधती है उसी तरह सोनेकी बेड़ी भी पुरुषको बाँधती है । इसी प्रकार शुभ परिणामोंसे किया गया शुभकर्म और अशुभ परिणामोंसे किया गया अशुभ कर्म दोनों जीवको बाँधते हैं । अतः उनमें भेद नहीं है । जैसे कोई पुरुष निन्दित स्वभाववाले (दुश्चरित्र) व्यक्तिको जानकर उसके साथ न उठता-बैठता है और न उससे मैत्री करता है । उसी तरह ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) जीव कर्मप्रकृतियोंके शीलस्वभावको कुत्सित (बुरा) जानकर उन्हें छोड़ देते हैं और उनके साथ संसर्ग नहीं करते । केवल अपने ज्ञायक स्वभावमें लीन रहते हैं । राग चाहे प्रशस्त हो, चाहे अप्रशस्त, दोनोंसे ही जीव कर्मको बाँधता है तथा दोनों प्रकारके रागोंसे रहित ही जीव उस कर्मसे छुटकारा पाता है । इतना ही जिन भगवान्के उपदेशका सार है, इसलिए न शुभकर्ममें रक्त होओ और न अशुभकर्ममें । यथार्थमें पुण्यकी वे ही इच्छा करते हैं जो आत्मस्वरूपके अनुभवसे च्युत हैं और केवल अशुभकर्मको अज्ञानतासे बन्धका कारण मानते हैं तथा व्रत, नियमादि शुभकर्मको बन्धका कारण न जानकर उसे मोक्षका कारण समझते हैं । इस सन्दर्भमें इस ग्रन्थके उक्त अधिकारकी निम्न गाथाएँ भी द्रष्टव्य हैं--

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥
सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१४६॥
जह णाम को वि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च ॥१४८॥
एमेव कम्मपयडीसीलसहावं च कुच्छिदं णाउं ।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया ॥१४९॥
रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥
वद-णियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥१५३॥
परमट्ठबाहिरा जे अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता ॥१५४॥[2]

१. पंचत्थियसंगह, गा० १३५, १३६, १३७, १३८ ।
२. समयसार, पुण्यपापाधिकार ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य अमृतचंद्रने इन गाथाओंका मर्म बड़ी विशदतासे उद्घाटित किया है, जो उनकी टीकासे ज्ञातव्य है। यहाँ हम उनके दो दृष्टान्तोंको उपस्थित करनेका लोभ संवरण नहीं कर सकते। एक दृष्टान्त द्वारा उन्होंने बताया है कि जैसे कोई व्यक्ति ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न होकर उसे अपने ब्राह्मणत्वका अभिमान हो जाता है और कोई शूद्र कुलमें पैदा होकर वह उसके अहंकारसे नहीं बचता। परन्तु वे दोनों यह भूल जाते हैं कि उनकी जाति तो आखिर एक ही है—दोनों ही मनुष्य हैं। उसी तरह पुण्य और पाप कहनेको भले ही वे दो हों, किन्तु हैं दोनों ही एक ही पुद्गलकी उपज। दूसरे दृष्टान्त द्वारा आ० अमृतचन्द्र कहते हैं कि जिस प्रकार एक हाथीको बाँधनेके लिए मनोरम अथवा अमनोरम हथिनियाँ उसपर कूटनीतिका जाल फेंक उसे बाँध लेती हैं और वह हाथी अज्ञानतासे उनके शिकंजेमें आ जाता है, उसी प्रकार शुभकर्म और अशुभकर्म भी जीवपर अपना लुभावना जाल डालकर उसे बन्धनमें डाल देते हैं और जीव अज्ञानतासे उनके जालमें फँस जाता है। तात्पर्य यह कि पुण्य और पाप दोनों ही जीवके सजातीय नहीं हैं—वे उसके विजातीय हैं और एकजाति—पुद्गलके वे दो परिणाम हैं। तथा दोनों ही जीवके बन्धन हैं। इनमें इतना ही अन्तर है कि एकको शुभ (पुण्य) कहा जाता है और दूसरेको अशुभ (पाप)। पर कर्म दोनों ही हैं। और दोनों ही बन्धनकारक हैं। जैसे सोनेकी बेड़ा और लोहेकी बेड़ी। बेड़ी दोनों हैं और दोनों ही पुरुषकी स्वतन्त्रताका अपहरण करके उसे बन्धनमें डालती हैं।

आ० गृद्धपिच्छने भी पुण्य और पाप दोनोंको कर्म (बन्धनकारक पुद्गलका परिणाम) कहा है और ज्ञानावरणादि आठों अथवा उनकी एकसौ अड़तालीस प्रकृतियोंको पुण्य तथा पापमें विभक्त किया है। उनके वे सूत्र इस प्रकार हैं—

१. सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्।

२. अतोऽन्यत्पापम्।[1]

दूसरे कुछ आचार्योंका भी पुण्य-पाप विषयक निरूपण यहाँ उपस्थित है—

आ० योगीन्दुदेव योगसारमें लिखते हैं—

पुण्यसे जीव स्वर्ग पाता है और पापसे नरकमें जाता है। जो इन दोनों (पुण्य और पाप) को छोड़कर आत्माको जानता है वही मोक्ष पाता है। (गा० दो० ३२)

जबतक जीवको एक परमशुद्ध पवित्र भावका ज्ञान नहीं होता तबतक व्रत, तप, संयम और शील ये सब कुछ भी कार्यकारी नहीं होते। (गा० दो० ३१)

पापको पाप तो सभी जानते और कहते हैं। परन्तु जो पुण्यको भी पाप कहता है, ऐसा पण्डित कोई विरला ही होता है। (दो, ७१)

जैसे लोहेकी सांकल, सांकल (बन्धनकारक) है उसी तरह सोनेकी सांकल भी सांकल (बन्धनकारक) है। यथार्थमें जो शुभ और अशुभ दोनों भावोंका त्याग कर देते हैं वे ही ज्ञानी हैं। (दो० ७२)

परमात्मप्रकाशमें भी आ० योगीन्दुदेव पुण्य और पापकी विस्तृत चर्चा करते हुए कहते हैं—

जो व्यक्ति विभाव परिणामको बंधका और स्वभाव परिणामको मोक्षका कारण नहीं समझता वही अज्ञानसे पुण्यको भी और पापको भी दोनोंको ही करता है। (२-५३)

जो जीव पुण्य और पाप दोनोंको समान नहीं मानता वह मोहके कारण चिरकाल तक दुःख सहता हुआ संसारमें भटकता है। (२-५५)

---

१. तत्त्वार्थसू० ८।२५, २६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह हम सहज रूपमें जान सकते हैं कि पुण्य और पापके विषयमें शास्त्रका क्या दृष्टिकोण है ? अर्थात् निश्चयनयसे पाप भी हेय है और पुण्य भी हेय है, क्योंकि वे दोनों पुद्गलके परिणाम हैं। पण्डितप्रवर दौलतरामजीके शब्दोंमें—

'पुण्य-पापफल माहिं हरख-बिलखो मत भाई,
यह पुद्गल-परजाय उपज विनसै फिर थाई।'[1]

तथा व्यवहारनयसे पुण्य उपादेय है, क्योंकि व्रतादिका ग्रहण प्रथमावस्थामें आवश्यक है और उनसे पुण्यका आस्रव होता हैं। पाप तो सर्वथा वर्जनीय ही है।

१. छहढाला।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org